**ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA**
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 **PP. No.- 260-263**

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- I, Issues-27, YEAR- Jan.-March-2023

# द्वितीय नगरीकरण की वैदिक पृष्ठभूमि

**डॉ0 अरविन्द कुमार राय**

असिस्टेन्ट प्रोफेसर– प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, नागरिक पी0जी0 कालेज, जौनपुर (उ0प्र0) भारत

**Received-05.03.2023, Revised-11.03.2023, Accepted-16.03.2023 E-mail: drarvindrai1@gmail.com**

***सारांशः*** ***सिन्धु सभ्यता के अन्तःपतन के पश्चात् एक लम्बे अन्तराल के पश्चात् गंगा घाटी में एक बार पुनः नगरों का उदय हुआ। तत्कालीन नगरीकरण के बेहतर समझ के निमित्त ऋग्वेद, जिसका ताना–बाना सरस्वती एवं दृश्यती नदी के मध्य बुना गया, सन्दर्भित आर्थिक उपादानों का सर्वेक्षण आवश्यक प्रतीत होता है। किसी भी समाज में नगरों के उदय के लिए अधिशेष उत्पादन, व्यापार एवं वाणिज्य, शिल्प एवं प्रौद्योगिकी तथा मजबूत राजनीतिक अवस्था का होना आवश्यक बताया गया है। वास्तव में गंगाघाटी के नगरों के उदय के पीछे उन ढेर सारी उत्तरोत्तर एवं निरन्तर विकास की कहानी वैदिक साक्ष्यों में सन्निहित है, जिसका आरम्भ ऋग्वेद से ही हो गया था, जो निरन्तर विकसित होती हुई एवं अन्य उत्पादनों को जुटाती हुई आगे बढ़ रही थी। उत्तर वैदिक काल में इसे न केवल क्षेत्रीय विस्तार मिला अपितु पशुपालन पर कृषि की महत्ता, शिल्प एवं उद्योग, वाणिज्य और व्यापार के विकास के साथ–साथ स्थाई निवास जनपदीय राज्यों का उदय एवं लौह तकनीक का प्रयोग कृषि अधिशेष आदि आवष्यक उत्पादनों को जोड़कर गंगाघाटी में छठीं शताब्दी ई0 पू0 में नगरीय बस्तियों के विकास की पृष्ठभूमि तैयार की जिसके द्वारा निर्धारित आधारभूत संरचना पर भविष्य का महल गढ़ा गया।***

***कुंजीभूत शब्द– सिन्धु सभ्यता, अन्तःपतन, तत्कालीन, नगरीकरण, सन्दर्भित, आर्थिक उपादानों, सर्वेक्षण, अधिशेष उत्पादन।***

**ऋग्वैदिक अर्थ–व्यवस्था–** द्वितीय नगरीकरण की बेहतर समझ के निमित्त सर्वप्रथम हमें ऋग्वेद के अन्तः साक्ष्यों का पड़ताल आवश्यक प्रतीत होता है। इस क्रम में सर्वप्रथम हमें आर्यों के जनजातीय घूमन्तू स्वभाव एवं पशुपालन के महत्व का संज्ञान होता है। यदि ऋग्वैदिक आर्यों की युद्धरतता एक सच है तो उनकी अर्थव्यवस्था में पशुधन का महत्व एक दूसरा सच। आर्यजनों की भावनाओं तथा कल्पना लोक में पशु–जगत जिस रूप में अर्न्तजटित दिखाई पड़ता है वह ऐसे समाज में ही सम्भव है जिसमें पशुपालन का महत्व सुप्रतिष्ठित हो, ''गोत्र'', ''गोचर'', ''पुंगव'' जैसे शब्दों का इतिहास इस तथ्य को विशद् रूप में व्याख्यायित करते हैं।

ऋग्वेद में वर्णित पशुओं में गाय एवं बैल महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। 'रयि' यानि 'सम्पत्ति' की गणना में मुख्यतः गाय और बैल ही थे। शायद इसीलिए धनी लोगों को गोमत कहा गया है। गाय सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण पशु थी। एक उल्लेख में कहा गया है कि जिस घर में गायें नहीं हो, वहाँ समृद्धि नहीं आती। गाय सूचक 'गो शब्द' अपने विविध रूपों में 176 बार वंष मण्डलों में उल्लिखित है। पुत्री के लिए प्रयुक्त 'दृहितृ' अर्थात् दुहने वाली षब्द गाय के महत्व को परिवारिक सन्दर्भ में व्याख्यायित करता है। गविष्ठि अर्थात् गायों की गवेषणा को युद्ध का पर्याय ही समझा जाता था। असल में आर्य गाय से इतना अभिभूत थे कि भैंस को भी 'गो' शब्द से ही व्युत्पन्न संज्ञाओं से अभिहित किया, जैसे– 'गौरी' और 'गवल'। गाय की महत्ता इतनी थी कि एक स्थान पर देवताओं को भी गाय से उत्पन्न बताया गया है। अन्य प्रमुख पशुओं में बैल, घोड़ा, भेड़, बकरी और गधे महत्वपूर्ण पालतू पशु थे।

वास्तव में पषुओं के प्रति आर्यों का यह आकर्षण उनके यायावरी जीवन के अनुकूल था। यायावरी जीवन में अचल सम्पत्ति से अधिक चल सम्पत्ति ही आकर्षित करे तो कोई आश्चर्य नहीं। पशु चल सम्पत्ति थे, जो उनके साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को आसानी से जा सकते थे।

ऋग्वेद में पशुपालन की अपेक्षा कृषि का स्थान गौण प्रतीत होता है। कृषि की महत्ता को सन्दर्भित करने वाले मात्र तीन ही शब्द पाये गये हैं– उर्दर, धान्य एवं वपन्ति। ऋग्वेद के कुल 10462 श्लोकों में से मात्र 24 ही कृषि से सम्बन्धित कोई वर्णन दे पाते हैं। 'कृष' जिसका अर्थ कृषि करना, जोतना होता है। ऋग्वैदिक वंश मण्डलों में दुर्लभ है। 'कृष्टि शब्द का उल्लेख 33 बार तो हुआ है किन्तु यह कृषि के अर्थ में नहीं अपितु 'जन' के अर्थ में यथा पंचजनाः या पंचचर्षणियः। भाषायी साक्ष्यों के आधार पर प्रो0 रामशरण शर्मा 'कृष्टि' को कृषि कर्म से सम्बद्ध होने की धारणा का निषेध करते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद के 'चर्षणि' शब्द के बारे में यह स्थापना कि यह 'कृष' से निष्पन्न है, जिसका अर्थ हल जोतना अथवा खोदना है, तर्क संगत प्रतीत नहीं होता, अपितु यह शब्द 'चर' से निकला है, जिसका अर्थ चलना अथवा भ्रमण करना था।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में उल्लिखित है कि अश्विन् देवताओं ने मनु को हल चलाना और 'यव' की खेती करनी सिखायी। इसके अतिरिक्त 'हल' बोधक शब्द 'लाङ्गल' तथा 'सीर का उल्लेख हुआ है। हल के फाल एवं तद्जनित रेखाओं 'सीता' तथा 'सुनु' की चर्चा भी है। छः, आठ या बारह, तक की संख्या वाले बैल से जुते हल की चर्चा है। जुते खेत को 'क्षेत्र' तथा उपजाऊ भूमि को 'उर्वरा' कहा जाता था।

**अनुरूपी लेखक/संयुक्त लेखक**

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- I, Issues-27, YEAR- Jan.-March-2023

हल के अतिरिक्त कृषि कार्य में प्रयुक्त होने वाले कुछ औजारों की भी चर्चा है, यथा खनित्र, (कुदाल) दात्र, (दरांत) व सृणी। फसल कटाई के पश्चात् गट्ठर बनाने तथा खलिहान में उनके मड़ाई का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त तितऊ (चलनी) तथा सूर्प (सूप) के प्रयोग से अन्न को भूसे से अलग करने का उल्लख भी प्राप्त होता है।

प्रमुख खाद्यान्नों में 'धान्य' शब्द का उल्लेख कुछ मूल अंशों में पाया गया है। परन्तु यह इतना सामान्य, अस्पष्ट एवं व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है कि किसी अन्न विशेष से इसका समीकरण कठिन जान पड़ता है। इसी प्रकार 'यव' उनके द्वारा उत्पन्न प्रमुख अनाज था। यह या तो विभिन्न प्रकार के अनाजों का सामान्य नाम था या फिर बहुत सम्भव है कि बाद के काल में प्रयुक्त 'जौ' का सूचक रहा हो।

ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्व के विश्लेषण से यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि पशुपालन को ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था के कम से कम प्रारम्भिक चरण में कृषि पर बढ़त हासिल थी। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि कृषि से आर्य परिचित नहीं थे। कृषि की सारी प्रक्रियाओं का उल्लेख ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्यों में सुरक्षित है।

जहाँ तक ऋग्वैदिक समाज में शिल्प एवं उद्योग के विकास का सवाल है यह अपने शैशव रूप में विद्यमान थी। विविध शिल्प विशेषज्ञों में 'तक्षन्' का स्थान सर्वोपरि प्रतीत होता है। यह लकड़ी का विभिन्न कार्य करता, रथ बनाता जो आर्यों के लिए बहु उपयोगी था। यातायात के साधन गाड़ी (अनस्) का निर्माण करता। उसकी सुन्दर नक्काशी की प्रशंसा की गयी है। 'कर्मकार' धातु का काम करता था। यह चिड़ियों के पंख से बनी धौकनी के सहारे धातु को आग में गलाता एवं तत्पश्चात् विभिन्न रूपाकार पात्रों को बनाता था। राधा कुमुद मुखर्जी ऋग्वेद से हिरण्यकार (सुनार) परिचायक साक्ष्य के रूप में पेश करते हैं जो स्वर्णाभूषण गढ़ता था और श्री मुखर्जी सुवर्ण प्राप्ति के स्रोत भी बताते हैं। वैदिक इंडेक्स के दृष्टांतों से ज्ञात होता है कि उस समय चमड़ा कमाने की कला ज्ञात थी। 'चर्मण' नाम शिल्पी पशुचर्म से थैले और आच्छादन के अतिरिक्त कोड़े, लगाम और प्रत्यंचा इत्यादि भी निर्मित करता था। कपड़ा बुनने की कला सर्वथा ज्ञात थी। बुनकर (वासोवाय) का उल्लेख है जो, अपने करघे (वेम) पर ताना (ओतु) और बाना (तंतु) करके कपड़ा बुनता था।

उल्लेखनीय है कि ऋग्वैदिक समाज में भी व्यवसायों को समान दर्जा प्राप्त था। किसी व्यवसाय को अपनाना अपनी स्वेच्छा पर था। इसमें अनुवंशिक तत्व अथवा भेदपरक भाव उत्तरदायी नहीं था। अन्यथा बिना किसी झिझक के वैदिक मंत्रों के रचयिता अपनी माता को चक्की पीसने वाली तथा अपने पिता को चिकित्सक नहीं बताता। वह स्पष्टः उल्लेख करता है कि धन प्राप्ति के लिए हम भिन्न–भिन्न व्यवसाय अपनाते हैं।

जहाँ तक क्रय–विक्रय का सम्बन्ध है, वस्तु विनिमय ही क्रय–विक्रय की प्रचलित प्रणाली जान पड़ती है। यह अलग बात है कि ''गाय'' को हम मूल्य के एक इकाई के रूप में व्यवहृत पाते हैं। 'निष्क' जो आभूषण था, ऐसा लगता है कि यह मूल्य की एक निश्चित इकाई बनता जा रहा था, क्योंकि सौ अश्वों के साथ सौ निष्क की प्राप्ति के सन्दर्भ में सौ हारों का व्यवहारिक औचित्य नहीं जान पड़ता। ऋण का प्रचलन हो गया था। एक जगह ब्याज के रूप में आठवें या सोलहवें भाग को ब्याज या मूल किसी रूप में लौटाने का वर्णन है।

इस प्रकार ऋग्वैदिक सामाजिक–आर्थिक पड़ताल के क्रम में हमें उसके जन जातीय स्वरूप का ही बोध होता है, जिसमें पशुचारी एवं कबिलाई तत्वों की प्रधानता थी। समाज का ढांचा समतावादी आदर्शों पर आधारित था। समाज अपनी खानाबदोश आदतों, पशुपालक प्रवृत्तियों एवं सतत् संघर्षशीलता के कारण उत्पादन, विनिमय, वितरण एवं उपभोग न तो निश्चित कर सकता था और न ही कर सका। व्यापक युद्धरतता में व्यापार के लिए एवं आपेक्षित अधिशेष उत्पादन के लिए शायद समय नहीं था, जो नगर के उदय के लिए आवश्यक है।

**उत्तर वैदिक अर्थव्यवस्था–** इस काल तक आते–आते अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में अपने पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा परिवर्तन के लक्षण दिखाई देते हैं। सर्वाधिक निर्णायक परिवर्तन कृषि के क्षेत्र में दिखाई देते हैं। लोहे का कृषि में प्रयोग एवं कार्यकुशलता से लैस होकर उत्तरवैदिक कालीन अर्थव्यवस्था अधिशेष और उपभोग का ऐसा ताना–बाना बुनती है, जिसमें विविध शिल्पों एवं शिल्पगत व्यवसायों के अभ्युदय एवं व्यापक प्रचार–प्रसार आवश्यंभावी था। तत्कालीन ग्रंथ इसके सक्षम साक्षी हैं।

इस काल तक आते–आते आर्यों ने कृषि कर्म की सम्भावनाओं को पहचान लिया था। जैसे–जैसे कृषि, अर्थव्यवस्था के केन्द्र में स्थापित हो रही थी, उसी क्रम में आर्यों की जीवन पद्धति में स्थायित्व के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे थे। कृषि की महत्ता का उद्घाटन राजसूय यज्ञों में राजा के अभिषेक के अवसर पर पुरोहित के इस कथन से हो जाता है–हे राजन्! यह राज्य तुम्हें कृषि (कृष्यै) सामान्य कल्याण (क्षोमाय) तथा पोषण (पोषाय) के लिए दिया जाता है। तैत्तरीय उपनिषद में अन्न को 'ब्रम्ह' मानते हुए समस्त प्राणियों की उत्पत्ति भरण–पोषण एवं उसका लय हो जाना उसी अन्न को बताया गया है।

कृषि कर्म में 'हल' की उपादेयता को पूर्णतः पहचान लिया गया था। अथर्ववेद में कहा गया है कि सबसे पहले पृथ्वी ने हल और कृषि को जन्म दिया। इस समय हल को खींचने के लिए चार से लेकर चौबीस तक बैल की आवश्यकता पड़ती

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- I, Issues-27, YEAR- Jan.-March-2023

थी। निश्चय ही ये हल काफी विशाल रहे होंगे। हल का फाल काफी नुकीला होता था। यह इतना कठोर होता था कि इसी तुलना हड्डी से की गयी है। सम्भवतः धातु निर्मित फाल का भी प्रयोग होने लगा था। षतपथ ब्राम्हण में कृषि कर्म की सारी प्रक्रियाओं का काफी विस्तृत विवरण आया है, जुताई, बुवाई, लवनी और मड़नी।

खाद्यान्न के रूप में ऋग्वेद में केवल 'यव' का ही विस्तृत विवरण है परन्तु इस काल तक 'ब्रीहि' गेहूँ के अतिरिक्त मूँग, उड़द, तिल एवं मसूर आदि की खेती की जाने लगी थी। अथर्ववेद में दो प्रकार के धान का प्रसंग आया है – ब्रीहि एवं तन्दुल। वर्ष में दो फसलें होती थीं। तैतरीय संहिता में वर्णन आया है कि 'जौ' शीतकाल में बोया जाता था और गर्मी में पक जाता था। धान वर्षा काल में बोया जाता था और शरद काल में पक जाते था। मूंग, उड़द और तिल वर्षा काल में बोये जाते थे और शरद काल तक पक जाते थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर वैदिक आर्यों की अर्थ संरचना में कृषि को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था। जैसे–जैसे कृषि अर्थव्यवस्था के केन्द्र में स्थापित होती जा रही थी, वैसे–वैसे आर्यों के यायावरी जीवन में स्थायित्व के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे थे।

परन्तु पशुपालन भी समाप्त नहीं हुआ था, अभी भी यह कृषि के साहचर्य में जीविकोपार्जन का सशक्त आधार था। कृषि में पशुओं की महत्ता असंदिग्ध थी, कृषि कर्म में बढ़ती उपयोगिता ने पशुओं की हत्या पर स्वतः विराम लगा दिया था। वस्तुतः जुताई से लेकर खलिहान में अन्न की ढुलाई तक पशु हमेशा उपयोगी थे, बेहतर उपज के लिए ये गोबर के रूप में प्राकृतिक खाद भी उपलब्ध करते थे।

धन के रूप में पशुओं की बड़ी महत्ता थी। आर्यों के लिए पशु 'श्री' एवं 'सम्पत्ति' के प्रतीक थें इनकी बढ़ोत्तरी के लिए तमाम उपक्रम किये जाते थे।

इस प्रकार कृषि, पशुपालन और लोहे के प्रयोग से आयी वकनीकी दक्षता से लैस होकर उत्तर वैदिक अर्थव्यवस्था, अधिशेष और उपभोग का ऐसा ताना–बाना बुनती है जिसमें विविध शिल्प एवं शिल्पगत व्यवसायों का अभ्युदय एवं व्यापक प्रचार–प्रसार तो आवश्यंभावी ही था, तत्कालीन ग्रंथ इन उद्योगों एवं व्यवसायों के विस्तृत जानकारी उपलब्ध कराते हैं।

वाजसनेयी संहिता एवं तैत्तरीय ब्राह्मण में 'पुरूषमेध यज्ञ' के समय दी जाने वाली बलि के लिए विविध श्रेणी के मनुष्यों की सूची दी गयी है जो आश्चर्यजनक रूप से काफी लम्बा है। इसमें– मागध (परवर्ती कालीन चारण–भाटों के समान एक वर्ण) शैलूष (अभिनय से मनोरंजन करने वाले), सूत (मागध के समान), सभाकार (सभा के सदस्य), रथकार (रथ बनाने वाला तथा बढ़ई), कुलाल (कुम्हार), कर्मार (लोहार), मणिकार, (आभूषण बनाने वाला), यप (नाई), ईषुकार (बाण बनाने वाला), धनुष्कार (धनुष बनाने वाला), ज्याकार (धनुष की डोरी बनाने वाला), रज्जु–सर्ज (रस्सी बनाने वाला), मृगयु (शिकार से आजीविका चलाने वाला), श्वनिन् (कुत्तो को पालने वाला), पुजिष्ठ (संभवतः पक्षियों को पालने वाला), विदलकारी (डलिया बनाने वाली स्त्री), कष्टकीकारी (कांटों का काम करने वाला), पेशकारी (कपड़ों का काम करने वाला), भिषज् (चिकित्सक), नक्षत्रदर्श (नक्षत्र विद्या का विशेषज्ञ), हस्तिप (हाथी पालने वाला) आयूवप (घोड़े पालने वाला), गोपाल (गाय पालने वाला), अविपाल (भेंड़ पालने वाला), अजपाल (बकरी पालने वाला), कीनाश (कृषि कर्म में प्रवृत्त), सुराकार (मदिरा बनाने वाला) गृह्य (चौकीदार), क्षत्ता (रथ हाकने वाला), अनुक्षत्ता (क्षत्ता के अधीन), दार्वाहार (लकड़हारा), पेषिता (मूर्तिकार), वास–पल्पुली (धोबन) रजमित्री (रंगरेजन), पिशुन (दूसरों के विषय में सूचना देने वाला) क्षत्ता (द्वारपाल), अनुक्षत्ता (उपद्वारपाल), अश्वसाद (घुड़सवार), भागदुध् (कर इकट्ठा करने वाला), अंजनीकार (अंजन बनाने वाला), कोशकारी (तलवार के म्यान बनाने वाली), आजिनसन्ध (हरिण चर्म का काम करने वाला), चर्मार (चमार), धीवर (मछली पकड़ने वाला), शौष्कल (सूखी मछली का धन्धा करने वाला), हिरण्यकार (सुनार), वणिज (बनिया), वनप (वन–रक्षक), वीणावाद (वीणावादक), तनुवध्म (वांसुरीवादक), शंखध्म (शंख वादक), वशनर्तिन् (नट), ग्रामणी (गांव का मुखिया), गणक (ज्योतिशी), अभिक्रोषक (घोषणा करने वाला)।

उपर्युक्त सूची में व्यवसायों की विविध कोटियां दिखाई पड़ती हैं। इनमें कुछ का स्वरूप तो विशुद्धतः औद्योगिक है, जबकि कुछ अन्य विविध दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त श्रम विभाजन के आधार पर निर्मित सामाजिक वर्ग हैं।

अथर्ववेद में व्यापारियों द्वारा अपना माल लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर उसे बेचने की चर्चा है। इस काल के मूल पाठ में समुद्र तथा समुद्र गमन का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वैदिक काल में ही धनार्जन के लिए तत्कालीन लोगों के समुद्र गमन की बात हम जानते हैं, जो व्यापार के निमित्त समुद्र की जानकारी को पुख्ता आधार प्रदान करता है। सौ डण्डों वाले जलपोत का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

जहां तक धातु के प्रयोग का प्रश्न है ऋग्वेद में 'अयंस्' का अर्थ भले ही स्पष्ट न रहा हो परन्तु उत्तर वैदिक काल में लोहे के लिए श्याम अयस् ओर तांबे के लिए लोहित अयस् अथवा लोहायस शब्दों का उल्लेख हुआ है। तांबा भिन्न–भिन्न पात्र बनाने के काम आता था। सीसे की गोलियां जुलाहे ताने में लटकते थे। चांदी, आभूषण, बरतन, निष्क, नामक गोल

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- I, Issues-27, YEAR- Jan.-March-2023

आभूषण या सिक्के बनाने के काम आती थी। सोना गले के निष्क, कर्णशोभन नामक आभूषण और पात्र बनाने के काम आता था।

जहां तक क्रय–विक्रय में सिक्के के प्रयोग का सम्बन्ध है इसके लिए निश्चित रूप से किसी सिक्के का उल्लेख तो प्राप्त नहीं होता है, विभिन्न उल्लेखों से इतना स्पष्ट होता है कि उत्तर वैदिक लोग निश्चित मूल्य के कुछ मानकों से अवश्य परिचित हो गये थे। शतपथ ब्राह्मण में शतमान का उल्लेख है जिसकी तौल सौ रत्ती थी। इसे सुवर्ण खण्ड माना जा सकता है। इसी प्रकार निष्क जिसका उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। इस समय भी प्रचलन में रहा होगा। परन्तु इन सबके बावजूद ऐसा लगता है कि इस समय भी क्रय–विक्रय का प्रधान माध्यम वस्तु–विनिमय ही था।

**निष्कर्ष** – इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक युग का कालचक्र पूरा होते–होते भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था यायावरी पशुचारी और मात्र निर्वाह की अर्थव्यवस्था को पृष्ठभूमि में ढकेल कर धीरे–धीरे विकास के विविध चरणों से निकलता हुआ गम्भीर और द्रुतगामी परिवर्तन के कगार पर आ खड़ा हुआ था।

वास्तव में कृषि का विकास इस दौर में एक महत्वपूर्ण चरण था। इसके पूर्ववर्ती आखेट ओर आहार संग्रह के चरण ही नहीं, अपितु पशुचारण काल में भी उत्पादन की प्रकृति नश्वर थी। दूध, फल, कन्दमूल, मांस इत्यादि उत्पादन बहुत दिनों तक संग्रहीत नहीं किए जा सकते थे, अस्तु इन उत्पादों के बल पर एक लम्बे समय तक निश्चिन्तता नहीं प्राप्त की जा सकती थी।

कृषि के विकास के साथ ही एक ऐसा उत्पाद हासिल हुआ। जिसका अपेक्षाकृत लम्बे समय तक संग्रह किया जा सकता था और इस संग्रह के बल पर न सिर्फ एक लम्बे समय तक निश्चिन्तता हासिल की जा सकती थी अपितु इस अतिरिक्त संचित भण्डार के बल पर दूसरों को अपना उपकरण भी बनाया जा सकता था।

इस प्रकार कृषि के प्रसार ने तत्कालीन लोगों के जीवन को जहाँ एक ओर एक स्थायी आधार प्रदान किया वहीं बढ़ती हुई कृषि पैदावार ने किसानों के भरण–पोषण के अतिरिक्त कुछ अधिवेश की सम्भावना को भी जन्म दिया और इस अधिशेष ने उपभोग के द्वारा खोल दिये। जिसकी पूर्ति में विविध शिल्पी एवं व्यवसायी लगे, उन्हें अपने श्रम का उचित मूल्य और अपनी शिल्पी दक्षता की प्रतिष्ठा मिली। उत्तरोत्तर विकास की इस प्रक्रिया ने घुमन्तू पशुचारी एवं मात्र निर्वाह की अर्थव्यवस्था को पृष्ठभूमि में ढकेल कर कृषि आधारित अधिशेष एवं बाजारोन्मुखी समाज की नींव रख दी और यही उत्पादन, अधिशेष और उपभोग की अर्थव्यव्यवस्था, नगर एवं नगर–जीवन के विकास का प्रस्थान बिन्दु था।

## संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अथर्ववेद, सम्पादक, रघुवीर, लाहौर, 1936–41.
2. ऋग्वेद, सायण टीका सहित, पांच खण्ड वैदिक संषोधन मण्डल, पूना 1938–51.
3. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र – वैदिक संस्कृति, प्र0सं0, इलाहाबाद, 2001, लोक भारती प्रकाशन।
4. दास, ए0 सी0 – ऋग्वैदिक कल्चर कलकत्ता, 1927.
5. मिश्र, जी0एस0पी0 – प्राचीन भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1983.
6. राय, उदय नारायण – प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद (द्वि0 सं0) 1994.
7. शर्मा, आर0 एस0, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992.

*****